जैन-दर्शन में काल की अवधारणा

—डॉ. वीरेन्द्र सिंह

दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में 'काल-प्रत्यय' को लेकर जो चिन्तन एवं मनन हुआ है, वह काल को निरपेक्ष, अनन्त, सापेक्ष, सीमित, रेखीय, चक्रीय तथा मानव अनुभव के क्षेत्र में मनोवैज्ञानिक काल के अस्तित्व को किसी न किसी रूप में मानता है। इसका अर्थ यह हुआ कि दार्शनिक चिन्तन एवं मानवीय अनुभव में काल एक पूर्व-अवधारणा है जिसके द्वारा हम मानव, विश्व और जगत को समझ सकते हैं तथा दूसरी ओर, विज्ञान के क्षेत्र में काल एक राशि या द्रव्य है जिसके द्वारा हम घटनाओं, क्रियाओं का मापन और उनसे गणना करते हैं। जब हम अंतरालों, दूरियों का मापन करते हैं, तो वह एक तरह से 'दिक्' या स्पेस का ही मापन है। विज्ञान-दर्शन में काल, दिक् सापेक्ष है अर्थात् दिक्-काल का सम्बन्ध निरपेक्ष न होकर सापेक्ष है। दिक्-काल का अस्तित्व दृष्टा सापेक्ष है और साथ ही गति सापेक्ष।

इस पृष्ठभूमि के प्रकाश में जैन-दर्शन में काल के स्वरूप तथा क्षेत्र को लेकर जो चिन्तन हुआ है, उसे हम दर्शन और विज्ञान की मान्यताओं के प्रकाश में सही प्रकार से लोकेट या निर्धारित कर सकते हैं। दूसरा कारण यह है कि जैन-दर्शन एक सापेक्ष-दर्शन है जो आधुनिक विज्ञान की मान्यताओं से न्यूनाधिक समानता रखता है। दूसरी ओर यह भी मानना होगा कि अक्सर भारतीय दार्शनिक पद्धतियों में (यथा वेदांत, बौद्ध, जैन तथा षट्दर्शन) अधिक वर्गीकरण एवं मिथकीय आवरण के कारण सत्य और यथार्थ को निर्गमित करना होता है और साथ ही, प्रतीकों, बिम्बों और आद्यरूपों के अन्तर्निहित अर्थ को उद्घाटित करना होता है। दूसरी बात यह है कि इन्हें सूत्रात्मक थैली में कहा गया है, अतः गद्य के अभाव में उनका विस्तृत वर्णन संभव नहीं हो सका है। अतः आज हमारी यह आवश्यकता है कि हम उनके अर्थ को व्याख्याथित करें और उन्हें नए ज्ञान के प्रकाश में निर्धारित करें।

जैन-दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है ''अनेकांत'' जो वस्तुओं और चीजों को, सत्य और यथार्थ को देखने की भिन्न दृष्टियों को महत्त्व देता है और इस प्रकार भिन्न दृष्टियों के सापेक्ष अस्तित्व को स्वीकार करता है। जहाँ तक काल प्रत्यय का सम्बन्ध है, उसे भी भिन्न रूपों तथा प्रकारों के तहत विवेचित किया गया है। काल द्रव्य है या नहीं, काल चक्रीय है या रेखीय, काल का मनुष्य क्षेत्रीय और ज्योतिष क्षेत्रीय रूप, काल का अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी रूप, काल और समय का रूप, कालाणु और काल का सम्बन्ध, काल, घटना और क्रिया का सम्बन्ध तथा काल के व्यावहारिक प्रकार—ये सभी तत्त्व इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि जैन-दर्शन (सारा भारतीय दर्शन) ने काल के भिन्न रूपों तथा कोणों को प्रस्तुत किया है कि दिक्-काल का एक व्यापक परिदृश्य हमारे सामने उजागर होता है।

जैन-दर्शन में काल को मूलतः ''द्रव्य'' माना गया है, लेकिन कुछ आचार्य काल को द्रव्य नहीं मानते हैं। इनका मानना है कि काल स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, वरन् वह जीवादि द्रव्यों का प्रवाह (पर्याय) है; यह मत आचार्य उमास्वाति का है और यही मत आगमों का भी है। दूसरा पक्ष काल को स्वतंत्र द्रव्य मानता है। उनका मानना है कि जिस प्रकार जीव-पुद्गल (भौतिक पदार्थ) आदि स्वतंत्र द्रव्य हैं उसी प्रकार काल भी स्वतंत्र द्रव्य है। काल जीवादि पर्यायों का प्रवाह नहीं है, वरन् उसे इससे भिन्न तत्त्व समझना चाहिए।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि जैन-दर्शन की यह प्रमुख मान्यता है कि काल, भौतिक पदार्थों और साथ ही आध्यात्मिक पदार्थों दोनों को रूपांतरित करता है, वह नित्य है; यहाँ तक कि काल के बगैर विश्व का विकास भी संभव नहीं है।

तुलनात्मक दृष्टि से यही बात हमें रामायण और महाभारत में भी प्राप्त होती है जहाँ काल के द्वारा ही सब कुछ घटित होता है और इस प्रकार काल ही विश्व का कारण है। इस तुलना से मैं यह कहना चाहता हूँ कि भारतीय-दर्शन की विचार-पद्धतियों में जो समानता मिलती है (असमानता भी), वह यह स्पष्ट करती है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा का स्रोत बैदिक साहित्य है और यह परम्परा द्वन्द्वात्मक है जो भिन्न विचार—दर्शनों के द्वन्द्व और विकास से सम्बन्धित है। जहाँ तक विज्ञान का प्रश्न है, वह काल को सापेक्ष, सीमित, आबद्धहीन एवं मापन का माध्यम मानता है। दिक्-काल का ससीम, छोरहीन रूप परोक्षतः काल के 'अनन्त' रूप का संकेत हैं, अतः काल का कोई 'छोर' नहीं है, वह एक प्रकार से काल के 'अनन्त' रूप को ही संकेतित करता है। यही काल का तात्त्विक संदर्भ है।

इसी के साथ, जैन-दर्शन में काल को लेकर एक महत्त्वपूर्ण धारणा यह है कि काल ही पदार्थों के सारे परिणमनों, क्रियाओं और घटनाओं का सहकारी कारण है। परिणमन और क्रिया सहभागी है। क्रिया में गति का (घटना में भी) समावेश होता है। गति का अर्थ है वस्तुओं और परमाणुओं का आकाश-प्रदेश (दिक्) में स्थान का परिवर्तन जिससे दिक् भरा हुआ है। यह स्थान परिवर्तन दूरी या नजदीकी से जाना जाता है, अतः दो बिंदुओं के बीच का अंतराल या अवकाश ही दिक् है।

प्रसिद्ध विद्वान डा. वीरेन्द्र सिंह का यह लेख विचित्र आयामों का करता हुआ चिन्तन की रोचक सामग्री प्रस्तुत करता है। यद्यपि कई स्थानों पर लेखक ने जैन दर्शन सम्मत धारणाओं के विपरीत स्वतंत्र चिन्तन प्रस्तुत किया है। जिससे सहमति आवश्यक नहीं है। —संपादक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आधुनिक विज्ञान में भी दिक् में पदार्थ वितरित है और दो वस्तुओं के बीच जो दूरी है, वह ही दिक् है। इसी प्रकार 'परत्व' और 'अपरत्व' अर्थात् पहले और बाद में होना भी मूलतः काल के द्वारा ही प्रत्यक्षीकृत होता है। विज्ञान में पूर्व और पश्चात् का मापन गणितीय सूत्रों के द्वारा होता है। भाषिक व्यापार एवं चिंतन में भाषा के घटक जैसे क्रिया, संज्ञा, सर्वनाम, भूत वर्तमान और भविष्य परोक्ष रूप से दिक्-काल का निबंधन करते हैं। क्रिया-पद मूलतः घटना का द्योतन करते हैं और इस प्रकार घटना और क्रिया का एक सापेक्ष सम्बन्ध होता है। (देखे मेरा लेख "भाषा चिंतन में दिक्-काल संकेतन, आलोचना ८३)। क्रिया एक तरह से कालवाचक स्थितियों (भूत, वर्तमान आदि) का ही संकेत है। ये घटनाएँ क्रियापदों द्वारा एक तार्किक व्यवस्था प्राप्त करती हैं।

क्रिया का मूल गुण है गति और काल की वैज्ञानिक अवधारणा गति सापेक्ष है। इस प्रकार जैन-दर्शन में काल ही सारी क्रियाओं, घटनाओं तथा प्रक्रमों (प्रोसेस) का सहकारी तत्त्व है। यह एक ऐसा सत्य है जो विज्ञान, भाषा-चिन्तन और वैशेषिक-चिंतन में किसी न किसी रूप में प्राप्त होता है। भर्तृहरि ने भाषिक स्तर पर क्रिया, घटना, काल और अंतरालों का जो विवेचन किया है, वह मेरी दृष्टि से वाक्-शक्ति के वृहद एवं अर्थवान् रूप को प्रस्तुत करता है।

इस बिन्दु पर आकर 'कालाणु' की धारणा पर विचार अपेक्षित है जो जैन-दर्शन की अपनी एक विशेष धारणा है। जैनदर्शन की मान्यता यह है कि काल असंख्य कालाणुओं से भरा है अर्थात् काल की 'संरचना' में कालाणुओं का संघात है। यह कालाणु एक बिन्दु है और वह भी आकाश या स्पेस में जिसे जैन चिन्तन में "प्रदेश" की संज्ञा दी गयी है। दिगम्बर परम्परा में (गोम्मटसार जीवकाण्ड) "एगपदेशो अणुस्सहते" तथा "लोकपदेशप्पमा कालो" जैसे कथन इस बात को स्पष्ट करते हैं कि "लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक अणु स्थित है। इससे यह स्पष्ट होता है कि द्रव्य (पुद्गल) का एक-एक अणु प्रदेश में स्थित रहता है।

वैज्ञानिक शब्दावली में इसे "स्पेस प्वाईंट" (दिक्-बिंदु) कहते हैं जो दिक् में पदार्थ के वितरण से सम्बन्धित है। यहाँ पर दिक् और काल का सापेक्ष सम्बन्ध है, उन्हें एक दूसरे से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। उपनिषद् की शब्दावली में कहें तो यह दिक्-काल का "युगनद्ध" रूप है। (स्टेडी आफ टाइम एण्ड स्पेस इन इंडियन थाट, के. मंडल, पृ. ३२)

जहाँ तक काल का सम्बन्ध है जैन-आचार्यों ने एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध की ओर संकेत किया है, यह सम्बन्ध है काल और समय का। अक्सर हम काल और समय को पर्यायवाची मान लेते हैं जबकि जैन-दार्शनिकों ने इनके मध्य सूक्ष्म अंतर को स्पष्ट किया है। जैन-दर्शन में समय, आवलिका आदि काल के सूक्ष्म विभाग हैं। काल का सबसे छोटा अंश जिसका विखंडन संभव न हो सके, वह 'समय' कहा जाता है। असंख्यात समयों की एक आवलिका होती है। असल में, सूर्य-चंद्र-ग्रह की गति के कारण इस काल को विभाजित किया जाता है जो काल का वह रूप है जिसे हम व्यावहारिक काल की संज्ञा देते हैं, इसे ही मानवीय काल कहा जा सकता है जिसके द्वारा हम काल या काल-खण्डों (भूत, वर्तमान, पल, घंटे आदि) का अनुभव या प्रत्यक्षीकरण करते हैं।

जैनाचार्यों ने इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म समय को समझाने के लिए रेशमी वस्त्र या साड़ी का उदाहरण दिया है। कोई भी दर्जी एक वस्त्र को एक ही बार में फाड़ डालता है, इस फाड़ने में जितना काल व्यतीत होता है, इसमें असंख्यात 'समय' बीत जाते हैं। वस्त्र तंतुओं का बना होता है, अतः ऊपर का तंतु पहले और नीचे का तंतु बाद में विदीर्ण होता है। इस प्रकार, अनन्त तंतुओं का संघात होता है और अनंत संघातों का एक समुदाय। ऐसे अनंत समुदायों से तंतु का ऊपरी रूप बनता है। इस प्रकार छेदन क्रमशः होता है। इस छेदन में जितना समय लगता है, उसका अत्यन्त सूक्ष्म अंश अर्थात् असंख्यातवाँ भाग 'समय' कहलाता है।

यदि गहराई से देखा जाएँ तो समय का इतना सूक्ष्म परिणाम बुद्धिग्राह्य नहीं है, लेकिन दूसरी ओर यह भी सत्य है कि आधुनिक विज्ञान ने आणविक कालमान के प्रयोग के द्वारा 'समय' का निर्धारण इतनी बारीकी से किया है कि उसमें त्रुटि की संभावना ३० हजार वर्षों में एक सेकेंड से भी कम है। इधर वैज्ञानिक हाइड्रोजन घड़ी भी विकसित कर रहे हैं। जिसमें शुद्धता की त्रुटि की सम्भावना और भी कम हो जाएगी अर्थात् तीन करोड़ वर्षो के अंदर एक सेकेंड से भी कम। अतः आणविक घड़ी नौ अरब उन्नीस करोड़ के लगभग भाग तक समय को संकेतित करने में सक्षम है। अतः असंख्यात समय की धारणा सत्य है।

प्रसिद्ध विज्ञान-दार्शनिक इड्रिंगटन का मानना है कि "इस आणविक युग में एक मिनट का सौवाँ भाग मूलतः 'अनंतता' का द्योतक है।" यदि सौवाँ हिस्सा अनंतता का संकेत है तो उपर्युक्त असंख्यात समयों की स्थिति जो कहीं अधिक सूक्ष्म है, इसकी कल्पना की जा सकती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जैन-दर्शन ने 'समय' की अवधारणा के द्वारा 'काल' के उस सूक्ष्म रूप की "गणना" का मार्ग प्रशस्त किया है जिसकी ओर विज्ञान और गणित क्रमशः अग्रसर हो रहे हैं।

इसी गणना से सम्बंधित जैन-दर्शन में संख्येय और असंख्येय काल की गणना की गयी है। जो काल सूर्य गति की सापेक्षता में मापा जाता है (यथा–दिन, रात, मुहूर्त, क्षण, युग आदि) वह लौकिक काल है जिसे संख्येय काल की संज्ञा दी गयी है। यह काल का राशि रूप भी है जिसके द्वारा विज्ञान में गणना की जाती है।

दूसरा वह काल है जो गणना से परे है, उसे या तो रूपक या उपमान के द्वारा संकेतित किया जाता है; उसे असंख्येय काल कहा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गया है, जैसे पल्योपम, सागरोपम आदि नाम से पुकारा जाता है जो किसी न अर्थ किसी में अनंतता के वाचक हैं। काल का सबसे छोटा निरंश अंश परमाणु हैं। यहाँ पर जैनाचार्यों ने एक योजन गहरे, लम्बे, चौड़े कुएँ की कल्पना की है जिसमें ठूस-ठूस कर परमाणुओं का ऐसा संघात हो जिस पर यदि चक्रवर्ती की सेना भी गुजर जाए तो वह नमे नहीं। उस कुएँ में से सौ सौ वर्ष बाद एक खण्ड या परमाणु को निकाले, तो जितने 'समय' में यह कुँआ खाली हो जाए, उस समय को 'पल्योपम' कहते हैं। ऐसे दस कोड़ा-कोड़ी (कोटि का अपभ्रंश रूप जो अति सूक्ष्म कालगणना का प्रतीक है) पल्योपम का एक सागरोपम होता है। बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का एक काल-चक्र होता है। अनंत काल चक्र बीतने पर एक पुद्गल परावर्तन होता है।

यहाँ पर इस काल-गणना को देने का तात्पर्य यह है कि इससे यह अनुमान लगाया जा सके कि भारतीय मनीषा ने काल के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंशों की गणना करने का जो दायित्व उठाया था, वह बेमानी नहीं था क्योंकि आज का विज्ञान काल गणना के इस सूक्ष्म रूप की ओर क्रमशः अग्रसर हो रहा है।

इस बिन्दु पर आकर अब मैं काल-चक्र की धारणा को लेना चाहूँगा जो भारतीय चिंतन की एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है क्योंकि इसका कोई न कोई रूप हमें भारतीय, ग्रीक तथा यहूदी चिंतन में प्राप्त होता है। जैन-दर्शन में काल को 'चक्र' माना गया है जो निरंतर गतिमान रहता है। इसे हम "दोलक" की संज्ञा भी देते हैं। काल के दो भेद हैं जो सापेक्ष हैं। एक भेद अवसर्पिणी है जो काल चक्र की अधोगति का सूचक है और दूसरा, उत्सर्पिणी जो काल गति के ऊर्ध्वरूप का संकेतक है। ये दोनों प्रक्रियाएँ सत्य हैं, और इनका पूर्वापर सम्बन्ध एक सतत् गति चक्र का वाहक है। दूसरे शब्दों में, यह काल-दोलक विकास और नाश (संहार) का एक क्रम है।

जैन्-दर्शन में अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी को क्रमशः छः छः आरों में विभक्त किया गया है जो मूलतः काल गति के भिन्न सोपान हैं, नकारात्मक (अवसर्पिणी) और सकारात्मक (उत्सर्पिणी) रूपों में। अवसर्पिणी काल के छः आरों को जो नाम दिया गया है (यथा सुषमा-सुषमा-सुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुःषमा-दुःषमा)। यह क्रमशः सुख से दुख की ओर सृष्टि-क्रम है। दूसरी ओर उत्सर्पिणी काल के छः आरों (दुःषमा-दुःषमा से सुषमा-सुषमा तक विपरीत क्रम में) का जो संकेत है, वह क्रमशः दुःख से सुख की ओर सृजन गति है।

इन आरों का एक मिथकीय विवरण है जो दो बातें स्पष्ट करता है–एक प्रलय (दुःख) और सृजन (सुख) का सापेक्ष सम्बन्ध और दूसरे प्रत्येक अवसर्पिणी इवसर्पिणी के दुःषम-सुषम आरे में किसी न किसी तीर्थंकर का संकेत। यहाँ पर तीर्थंकर व्यक्ति न होकर एक 'प्रतीक' है जो विकास के भिन्न सोपानों का अधिष्ठाता है। सृजन के लिए 'युग्म' (स्त्री-पुरुष, ऋणात्मक-धनात्मक, पुरुष-प्रकृति, पदार्थ-ऊर्जा आदि) का होना जरूरी है जिसका संकेत कुछ आरों में किया गया है।

जीवशास्त्रीय दृष्टि से भी सृजन के लिए दो की आवश्यकता होती है जिसका जटिलतम् रूप हम स्तनधारी प्राणियों में (जिसमें मानव प्राणी भी हैं।) पाते हैं। मैं इन आरों की अतिशयोक्तिपूर्ण मिथकीय आवरण में छिपे सृष्टि के तीन तत्त्वों को प्राप्त करता हूँ–प्रलय, सृजन-युग्म और तीर्थंकर।

जैन-दर्शन के इस काल-चक्र का एक समान बिम्ब है "महादोलक" जो हमें वैदिक चिंतन में भी प्राप्त होता है। एक काल-चक्र, जिसे 'मन्वंतर' भी कहते हैं, उसका आवर्त्तन काल ३० करोड़ ६७ लाख वर्ष माना गया है। यह मन्वंतर-विज्ञान मात्र मिथक नहीं है, वरन् इसके द्वारा हम सृष्टि क्रम (प्रोसेस) को समझते हैं। यह समस्त सृष्टि एक "संकल्प" है जो गतिशील "दोलक" है जिसमें कोई विरोध या प्रतिबधक नहीं है। इस दोलक के दो बिंदु हैं 'अ' और "छ" जो काल गति के अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के आरंभ एवं अंत हैं जो एक नित्य क्रम है। इसी प्रकार 'छ' से 'अ' तक के सात विभाग (आरे) हैं जो उत्सर्पिणी काल गति के संकेतक है। सृष्टि चक्र का आरम्भ 'अ' बिंदु से होता है जो सात विभागों का अतिक्रमण कर 'छ' बिंदु तक आता है और फिर 'छ' बिंदु से 'अ' की ओर क्रमशः गतिशील होता है।

इस प्रकार, यह गोलक एक नित्य गति से घूमता है। इस पथ के अतिक्रमण में जो काल निक्षेप होता है, वह एक 'कल्प' है। गणना की दृष्टि से यह कल्प प्रमाण १००० चतुर्युग है। इस चक्र के प्रत्येक विभाग को मनवंतर कहते हैं और प्रत्येक मन्वंतर (१४) का अधिष्ठाता 'मनु' है। इसे चित्र के द्वारा इस प्रकार संकेतित किया जा सकता है :

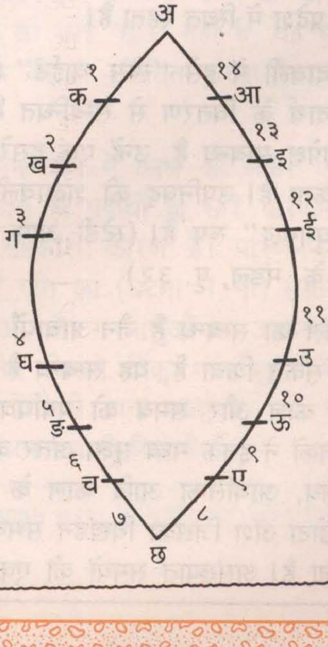

जैन-दर्शन में काल-चक्र के १२ विभाग हैं जबकि वैदिक चिंतन में १४ विभाग हैं; इस का कारण आरंभ और मध्य बिंदु है जो वैदिक मन्वंतर-विज्ञान के १४ विभागों को समक्ष रखता है।

इसी संदर्भ में एक तथ्य यह है कि यहाँ पक रेखीय-काल गति (जो प्रत्येक विभाग में है) भी है और चक्रीय भी। जहाँ तक आवर्त्तन चक्र का प्रश्न है, रेखीय और चक्रीय गतियाँ सापेक्ष हैं, उन्हें मेरे विचार से निरपेक्ष नहीं माना जा सकता है। वे मानव अनुभव और विश्व-संरचना में सापेक्ष हैं।

अतः उपर्युक्त विवेचन के अनुसार जैन-दर्शन में काल की अवधारणा का एक व्यापक भौतिक आधार है जो मनुष्य क्षेत्रीय एवं ज्योतिष क्षेत्रीय काल-रूपों को सापेक्ष रूप में प्रस्तुत करता है, और काल के निरंतर गतिशील रूप या आवर्तन को समक्ष रखता है जो मेरे विचार से भारतीय चिंतनधारा की एक महत्त्वपूर्ण स्थापना है। इसके अलावा, कालाणु की धारणा, काल और समय का सम्बन्ध तथा काल-चक्र का संदर्भ–ये ऐसे प्रत्यय हैं जो काल के व्यापक संदर्भ को रेखांकित करते हैं। इसी के साथ, काल गणना का रूप अपने में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है जो आधुनिक विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है।

जैन-दर्शन में काल को द्रव्य के रूप में ग्रहण किया गया है और पदार्थ के सारे परिणमन एवं प्रक्रमों में काल एक सहकारी तत्त्व है। यह स्थापना काल को भौतिक क्रियाओं तथा परिणमनों से जोड़ती है। चेतना के स्तर पर काल का यह जागतिक-भौतिक रूप एक सत्य है, तो दूसरी ओर, चेतना के ऊर्ध्व स्तर पर काल का पराजागतिक या अनंत रूप भी एक सत्य है। चिंतन की द्वन्द्वात्मक गति में काल के ये दोनों रूप सापेक्ष हैं, लेकिन यह भी एक सत्य है कि बिना जागतिक काल के हम पराजागतिक काल की प्रतीति नहीं कर सकते। सृजन और विचार के क्षेत्र में यह सत्य है। जागतिक दिक्-काल के बिम्ब, वस्तुएँ और पदार्थ ही वे आधार हैं जिनके द्वारा हम पराजागतिक प्रतीतियों से साक्षात् करते हैं। इन दोनों काल रूपों में से जब हम किसी एक रूप को अधिक महत्त्व देने लगते हैं तो असंतुलन के शिकार होते हैं जो हमें विचारों के इतिहास से स्पष्ट होता है। यहाँ पर भी एक सम्यक्-दृष्टि की आवश्यकता है।

५ झ–१५, जवाहर नगर
जयपुर ३०२ ००४

ध्यान योग : दृष्टि और सृष्टि

–स्वामी अनन्त भारती

ध्यान शब्द चिन्तनार्थक ध्यै धातु से भाव अर्थ में अन (ल्युट्) प्रत्यय करके बनता है। जिसका यौगिक अर्थ है चिन्तन करना, याद करना। साधकों की परम्परा में ध्यान शब्द पारिभाषिक अर्थ में अर्थात् एक सुनिश्चित विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत निबन्ध में उस विशेष अर्थ पर ही विचार किया जा रहा है।

योगसूत्र के लेखक महर्षि पतञ्जलि ने योग के जिन आठ अंगों की चर्चा की है, उनमें ध्यान सातवाँ अंग है, जिसकी साधना धारणा के बाद की जाती है। पतञ्जलि द्वारा दी गयी परिभाषा के अनुसार किसी आन्तर या बाह्य देश में चित्त का स्थिर करना धारणा है। (देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।–यो. सू. ३.१) जब चित्त उस स्थल में कुछ काल तक स्थिर होने लग जाये तो उस स्थिति को ध्यान कहते हैं। (तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्। यो. सू. ३.२) इस प्रकार ध्यान धारणा की उत्तरपीठिका है, बाद की स्थिति है। ध्यान के बाद समाधि की स्थिति मानी गयी है है। इस स्थिति में चित्त में इतनी एकाग्रता आ जाती है कि चित्त में अर्थमात्र ही अवभासित होता है। अर्थ के नाम, रूप आदि विकल्प चित्त से विलीन हो जाते हैं, दूसरे शब्दों में अर्थ स्वरूप शून्य होकर अवभासित होता है। समाधि के अनेक स्तर है। प्रथम स्तर में स्थूल पदार्थ में चित्त की पूर्ण एकाग्रता (निश्चलता) होती है, द्वितीय स्तर में स्थूल विषय लुप्त-सा हो जाता है, तृतीय स्तर में चित्त की स्थिरता का विषय सूक्ष्म पदार्थ परमाणु तन्मात्रा आदि होते हैं। चतुर्थ स्तर में सूक्ष्म विषय भी लुप्त हो जाता है। पंचम स्तर में केवल आनन्द की अनुभूति होती है। छठे स्तर में आनन्द भी लुप्त-सा हो जाता है। सातवें स्तर में केवल अस्मिता मात्र का अवभासन होता है। इन्हें क्रमशः संवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सानन्दा, निरानन्दा और अस्मिता मात्र समाधि कहते हैं। ये सातों समाधियाँ सम्प्रज्ञात समाधि के भेद हैं। इनके बाद असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय किसी का भी ज्ञान नहीं रहता। इस क्रम में ध्यान चित्त की एकाग्रता की बहुत प्रारम्भिक स्थिति है।

सांख्य सूत्र में मन के निर्विषय होने को ध्यान कहा गया है (ध्यानं निर्विषयं मनः।–सांख्य सू. ६) यह स्थिति पतंजलि के स्वीकृत निर्विचार समाधि के बाद की स्थिति है। षट्चक्र निरूपण (१.१३), ब्रह्मनिर्वाण तन्त्र (३.२६) आदि ग्रन्थों में मूलाधार आदि चक्रों में ध्यान करने का निर्देश मिलता है, जिससे यह माना जा सकता है कि कुण्डलिनी साधनापरक ग्रन्थों में पतञ्जलि स्वीकृत ध्यान का स्वरूप ही स्वीकार किया जाता है, जिसमें किसी स्थल में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org